उपनिषदों की कथाएँ

हिमांशु श्रीवास्तव

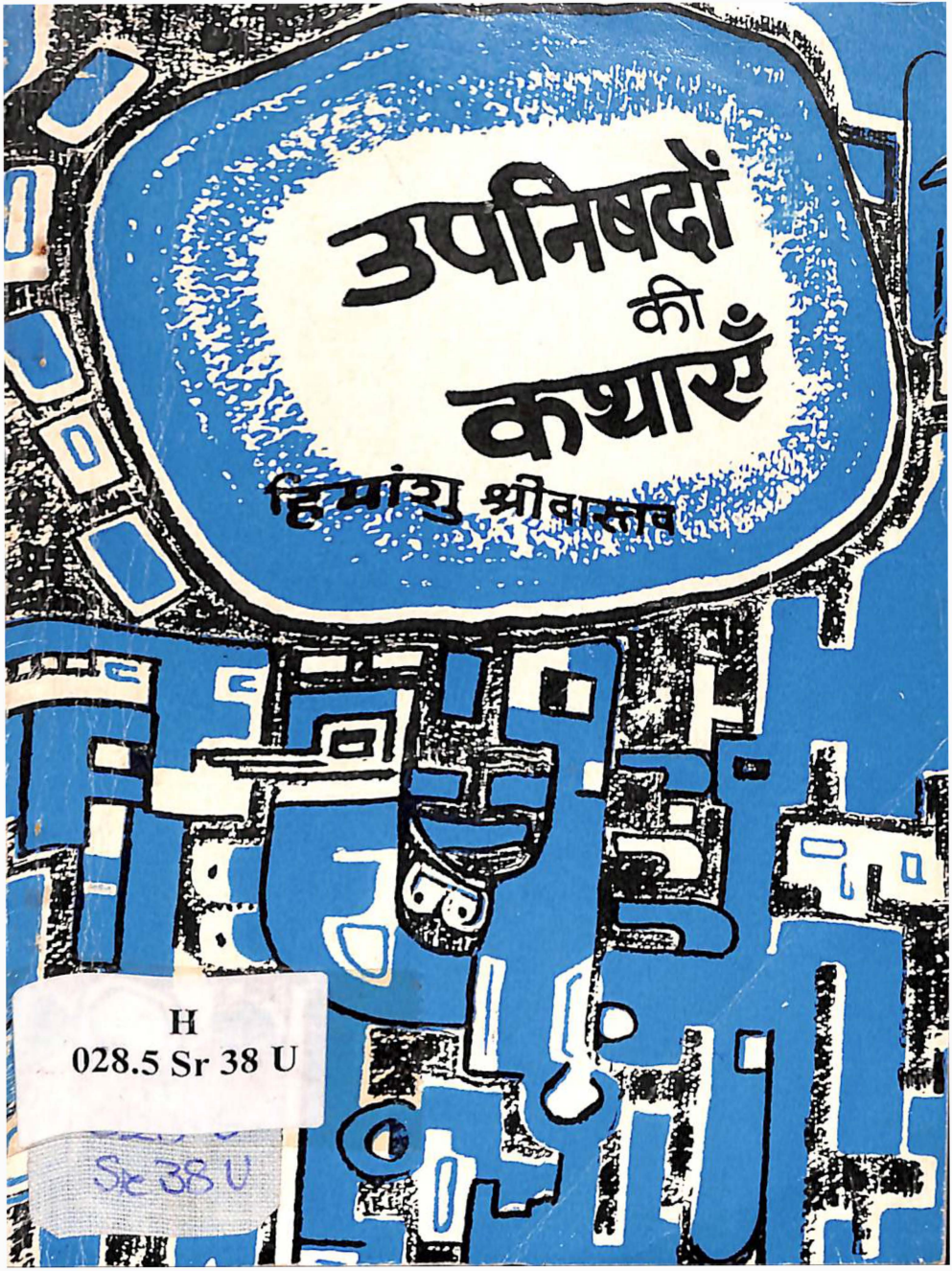

H
028.5 Sr 38 U

Sr 38 U

INDIAN INSTITUTE OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY SIMLA

उपनिषदों की कथाएँ

हिमांशु श्रीवास्तव

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली–७

CATALOGUED

77816
11/3/92
H
028.5
Sr38U

प्रकाशक : सन्मार्ग प्रकाशन
16 यू० वी० बैंग्लोर रोड
दिल्ली-110007

Library IIAS, Shimla
H 028.5 Sr 38 U
00077816

प्रथम संस्करण : 1989

मूल्य: 0.00 रुपए

मुद्रक : प्रिन्ट आर्ट, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया
फेस-I, नई दिल्ली-110028

क्रम

1. प्रजापति का उपदेश 5
2. बैलगाड़ी वाला 15
3. वरुण ऋषि और भृगु 25
4. राजा प्रवाहण और श्वेतकेतु 36
5. सत्य की विजय 45
6. भक्ति का प्रसाद 58

⊙

प्रजापति का उपदेश

प्रजापति !

हाँ, प्रजापति का अर्थ आप जानते हैं ?

वेद में प्रजापति ब्रह्म को कहा गया है। यही प्रजापति या ब्रह्म सृष्टि के रचने वाले हैं। अपने सृष्टि-कर्त्ता को हम पिता कहते हैं—आदि पिता।

तो प्रजापति मनुष्य जाति के आदि पिता हैं। प्रजापति एक रोज देवता, आदमी और असुर तीनों पर खुश हुए थे और उन्होंने तीनों को शिक्षा दी थी।

देवता, असुर और मनुष्य जब तीनों कुछ बड़े हुए तो इन्हें विद्या पढ़ने की आवश्यकता हुई। लेकिन

प्रश्न यह उठा कि ये लोग विद्या सीखने के लिए किसके पास जाएँ ? कोई गुरु न मिलने पर तीनों ने निश्चय किया कि उन्हें विद्या पढ़ने के लिए प्रजापति के पास ही चलना चाहिए। सलाह करके तीनों प्रजापति की शरण में आये। उनके चरणों पर मस्तक रखकर तीनों ने एक स्वर से कहा, "प्रभो ! हे हमारे आदि पिता!! अब हम बड़े हो चले हैं। हमें विद्या सीखनी है। कृपया, आप हम लोगों को विद्या-दान दें।"

पहले प्रजापति ने उन लोगों को ध्यानपूर्वक देखा; फिर कहा, "पुत्रो ! विद्या सीखना आसान काम नहीं है। इसके लिए तुम लोगों को कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ेगा। आश्रम में रहना होगा। ब्रह्मचर्य का पालन करोगे तो उसमें ओज की वृद्धि होगी। ओज से उसमें तेज उत्पन्न होगा, और तेज उत्पन्न होने पर तुम्हारी बुद्धि इस योग्य होगी कि तुम विद्या सीख सकोगे।"

"जो।" तीनों ने एक स्वर से कहा।

"बोलो, तुम लोगों को आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना स्वीकार है ?" प्रजापति ने पूछा।

"स्वीकार है, प्रभो !" असुर, देवता और मनुष्य

बोले।

"तो ठीक है। आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य-पालन की परीक्षा दो।" प्रजापति बोले। और इस प्रकार असुर, देवता और मनुष्य तीनों प्रजापति के निकट आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने लगे। वे कंद-मूल-फल खाते, सादे वस्त्र पहनते, यज्ञोपवीत धारण करते और ईश्वर की प्रार्थना करके अपना समय बिताने लगे।

आत्म-शुद्धि और ईश्वर के भजन के सिवा वे अपना एक क्षण भी दूसरे काम में व्यय नहीं करते थे। इसी प्रकार कई वर्ष बीत गए। अब उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि उनमें ओज की वृद्धि हो गई है। उनमें तेज आ गया है और उनकी बुद्धि इतनी निर्मल हो चली है कि अब वे विद्या सीख सकते हैं। उन लोगों ने एक रोज आपस में सलाह की कि शिक्षा-दान की प्रार्थना के लिए अब इन्हें अपने आदि पिता प्रजापति के पास चलना चाहिये।

प्रजापति अपने आसन पर बैठे हुए सृष्टि के संबंध में विचार कर रहे थे। चारों ओर शांति थी। मधुर-मधुर हवा चल रही थी। दिशा-दिशा में पवित्रता का साम्राज्य था। प्रजापति को शांत और गम्भीर देखकर

वे तीनों मौके से लाभ उठाने पहुँच गए। उन लोगों ने सर्वप्रथम प्रजापति के चरणों पर माथा टेककर प्रणाम किया। सहसा प्रजापति का ध्यान-भंग हुआ। उन्होंने इन तीनों को देखकर पूछा, "क्या है, वत्स ?"

"प्रभो !" तीनों इतना ही बोल सके।

"कहो, संकोच न करो।" प्रजापति ने कहा।

इस बार देवता, मनुष्य और असुर, तीनों ने मिलकर निवेदन किया, "प्रभो ! ब्रह्मचर्य का पालन करते तो कई वर्ष बीत गए। ईश्वर की उपासना और ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन के सिवा हम लोगों ने कभी कोई और काम नहीं किया। कृपया, हम लोगों को शिक्षा दीजिए।"

उनके निवेदन को सुनकर प्रजापति ने कुछ न कहा। उन्होंने केवल उन तीनों पर एक तेज-भरी दृष्टि डाली। तीनों उनकी ओर निराशा-भरी आँखों से देखने लगे। वे भीतर-ही-भीतर निराश हो गए। सोचा, शायद अभी हम लोगों को शिक्षा न देंगे। शायद, अभी हमारी उपासना में कुछ कमी रह गई है। लेकिन तभी प्रजापति ने उन तीनों की ओर देखते हुए सिर्फ इतना कहा—"द।"

तीनों ने उनका यह एक अक्षर 'द' सुन लिया।

प्रजापति ने उन तीनों से पूछा, "क्या मैंने जो कुछ कहा है, उसका अर्थ तुम लोगों ने अच्छी तरह समझ लिया ?"

देवताओं ने कहा, "समझ लिया है, भगवन् !"

"विश्वासपूर्वक कह रहे हो ?" प्रजापति ने पूछा।

"हाँ, प्रभो !" देवता बोले ।

"तो बतलाओ, क्या समझ लिया ?" प्रजापति ने पूछा ।

देवता बोले, "आपने कहा है 'द' । अर्थात्—दाम्यत् ! आपके कहने का मतलब है—दमन करो, दमन करो !"

प्रजापति ने उनका उत्तर ध्यानपूर्वक सुन लिया । उन्होंने प्रेमपूर्वक मुस्कराते हुए कहा, "हाँ, जो समझा है, सो ठीक ही समझा है ।"

देवताओं में गुण प्रचुर मात्रा में था । परन्तु, क्या उनमें दोई दोष नहीं था ? था, एक दोष था । वे जरा अशांत स्वभाव वाले हो गए थे । वे अपने इस अवगुण को जान भी गए थे । ब्रह्मचर्य के पालन से उन्हें इस बात का आत्मज्ञान हो गया था । इसीलिए प्रजापति के मुख से 'द' सुनते ही उसका अर्थ उन लोगों ने यह निकाल लिया कि पिता जी का कहना

है—दमन करो ! दमन करो !

अपनी बुद्धि और समय के अनुसार देवताओं ने 'द' का जो अर्थ निकाला, वह गलत नहीं था। इसके बाद प्रजापति ने फिर मौन धारण कर लिया। अब मनुष्य की बारी आई। मनुष्य ने समझा कि अब प्रजापति उसे आशीर्वाद-भरी शिक्षा नहीं देंगे। लेकिन मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं थी कि स्वार्थ को त्याग दे। मनुष्य ने अपना धीरज खो दिया। उसने शीघ्र ही प्रजापति के सामने उच्च स्वर में कहा, "प्रभो ! कृपा कर हमें भी शिक्षा दीजिए ! हमने भी ब्रह्मचर्य-व्रत का घोर पालन किया है।"

"द।" प्रजापति के मुख से फिर यही बात निकली।

मनुष्य प्रजापति का मुख देखने लगा। वह आश्चर्य से पीला पड़ता जा रहा था। एक ही प्रकार की शिक्षा सबको क्यों ? और फिर स्वयं प्रजापति शिक्षा का स्वयं कोई अर्थ नहीं बतलाते। तभी प्रजापति ने निराश मनुष्य से पूछा, "मैंने क्या कहा है, बात समझ में आ गई ?"

"हाँ, बात समझ में आ गई, प्रभो !" मनुष्य बोला।

"क्या समझे, जरा बतलाओ तो सही !" प्रजापति

ने मनुष्य की समझ जानना चाहा।

मनुष्य ने कहा, "प्रभो!" आपने कहा है—'दत्त्'। आपकी शिक्षा है कि दान करो।"

प्रजापति ने पहले की तरह ही मुस्कराकर कहा, "तुमने जो समझा है, वह ठीक समझा है।"

मनुष्य भी गुणों से भरा हुआ था। मगर उसमें भी एक अवगुण था। मनुष्य स्वभाव ही से लोभी होता है। इसोलिये तो प्रजापति के 'द' अक्षर का अर्थ उसने लगाया—दान करना चाहिए।

मनुष्य में क्रोध की मात्रा अत्यधिक थी। इसी कारणवश मनुष्य ने उसकी शिक्षा का अर्थ समझा—दान करो, दान करो।

मनुष्य जब कहीं शिक्षा की बातें सुनता है तो उसे अपने अवगुण याद आने लगते हैं और वह सोचता है कि उसे अपने अब गुण दूर करने चाहिएँ।

मनुष्य और देवता के बाद असुरगण भी शिक्षा लेने के लोभ से न बच सके। क्योंकि उन लोगों ने भी देवताओं और मनुष्यों की तरह आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया था। ईश्वर की उपासना की थो। जंगल के कंद-मूल-फल खाकर ब्रह्मचर्य-जीवन के अनेक वर्ष बिताये थे। इसलिए मौका देखकर

वे भी प्रजापति के सामने आ गए।

"क्या है, तुम क्या चाहते हो ?" प्रजापति ने पूछा।

"हमें भी शिक्षा दीजिए, भगवन् !" असुर ने कहा।

प्रजापति ने पहले की तरह पुनः कहा, "--द--"।

असुर ने प्रजापति का यह एक अक्षर धैर्यपूर्वक सुन लिया। लेकिन थोड़ी देर के बाद ही प्रजापति ने पूछा, "मैंने जो कहा, उसका अर्थ समझ लिया ?"

"हाँ, समझ लिया, प्रभो !" असुर बोला।

"क्या समझे बतलाओ भला ?" प्रजापति बोले।

असुर बोला, "आपने कहा है—'दयध्वम्'-अर्थात् दया करो—दया करो।"

असुर से उत्तर पाकर प्रजापति प्रसन्न हुए और उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "तुमने जो समझा है, ठीक समझा है।"

असुरगण स्वभाव के बड़े कठोर और निर्दयी होते थे। इसलिए पिता के सामने उन्हें अपना दोष शीघ्र दीख पड़ा। इसलिए तो उन लोगों ने द का अर्थ लगाया—दया करो, दया करो !

आज से पाँच-सात हजार वर्ष पहले गुरु के आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए

विद्यार्थियों को इसी प्रकार विद्या का अध्ययन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य का पालन करने से विद्यार्थी इतने तेज हो जाते थे कि उन्हें अपने गुण और दोष का स्वयं ज्ञान हो जाता था और वे गुरु के द्वारा दिए गए केवल एक अक्षर के ज्ञान से सभी तरह के ज्ञान प्राप्त कर लेते थे।

आपने देखा, प्रजापति ने उन तीनों को एक अक्षर मन्त्र से शिक्षा दी और वे अपनी-अपनी ताकत और बुद्धि के अनुसार उसका अर्थ समझ गये।

आपने बरसात के मौसम में बिजलियों को चमकते अवश्य देखा होगा। आकाश में बादलों को उड़ते अवश्य देखा होगा और बादलों की भीषण गर्जना भी सुनी होगी। बिजली की गड़गड़ाहट और बादलों की खराहर में हम आज भी अपने आदि पिता प्रजापति की अमर शिक्षा को कान से सुनते हैं। ध्यान देकर सुनिए—जब बादल गरजते हैं, बिजली टकराती है तो उनसे यही ध्वनि फूट पड़ती है—द--द--द—दाम्यत्—दत्त—दयध्वम् !

आपने इसका अर्थ समझ लिया होगा अर्थात्—दमन करो ! दान करो !! दया करो !!!

उपनिषद् की आज्ञा है कि जीवन में तीन बातें

सीख लो। पहली बात है—दमन करना अर्थात् क्रोध का दमन करो। दूसरी बात है—दान करो अर्थात् धन-संपत्ति किसी की नहीं है। इसे दान करो। लोभ में कदापि न पड़ो। तीसरी बात है—दया करो। अर्थात् निर्दयी मत बनो। निर्दयता पाप है। दया करना सीखो।

मनुष्य के आदि-पिता प्रजापति मनुष्य के सामने नहीं आते, मनुष्य उन्हें देख नहीं पाता लेकिन वे अपनी संतान को घटाओं की गर्जना-द्वारा, बिजली की टकराहट के द्वारा सत-शिक्षा की ध्वनि मृत्यु लोक में बिखेरते रहते हैं।

ʘʘ

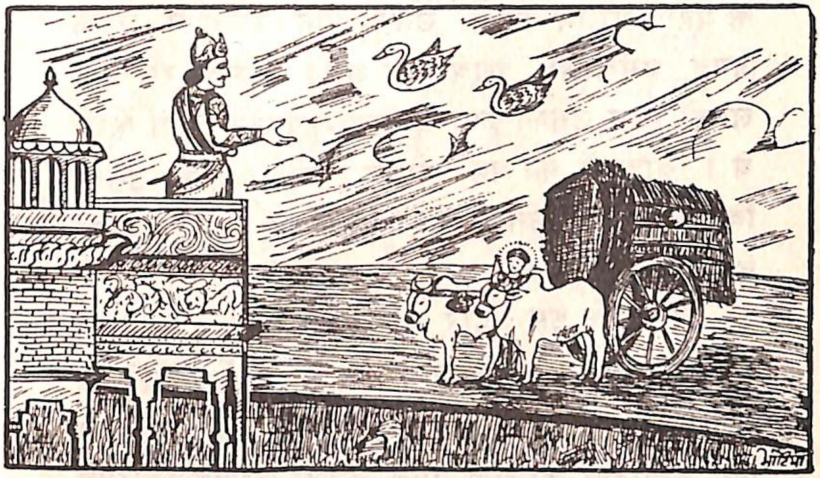

बैलगाड़ी वाला

प्राचीन काल में जानश्रुति नामक एक राजा था। वह राजा अत्यन्त दयालु था। वह प्रतिदिन दान पाने के योग्य लोगों के हाथ बहुत-सी चीजें दान करता। अतिथियों का तो उसके यहाँ मेला लगा रहता। अतिथियों को उसके यहाँ किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था। अतिथियों के सुख-चैन के लिए उसने एक विशाल अथितिशाला बनवा रखी थी।

वह इतने उदार चरित्र का आदमी था कि उसकी इच्छा थी कि गाँव, शहर-भर के साधु-महात्मा उसी

के यहाँ भोजन करें। उसने अपने राज्य में अनेक जगह धर्मशाला, छात्रावास आदि खुलवा रखे थे। लाखों छात्र उसकी कृपा से विद्या-उपार्जन किया करते थे। ब्राह्मणों को वह भोजन कराता और उसकी विदाई के वक्त उनके चरण-स्पर्श कर उन्हें पर्याप्त दक्षिणा भी देता था।

राजा के इस उदार चरित्र को देखकर ऋषिगण बड़े खुश हुए। उसके अन्न-दान से देवताओं को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उन लोगों ने सोचा कि अब राजा को ब्रह्मानन्द का सुख प्राप्त करना चाहिए। उसने बहुत पुण्य किया है। गरीबों को उसने अन्न, वस्त्र दिए हैं। ब्राह्मणों को दान दिए हैं। विद्यार्थियों को विद्या-उपार्जन करने की सुविधाएँ दी हैं।

ऐसा सोचकर ऋषि और देवताओं ने हंस का रूप धारण कर लिया और वे ऐसे समय में उड़ते हुए राजमहल की छत पर जा पहुँचे, जबकि राजा जानश्रुति उन लोगों को देख सके। हंसों के रूप में देवता और ऋषि राजा की छत पर जाकर बैठ गये तब एक हंस ने दूसरे हंस से कहा, "देखो, जानश्रुति का तेज सूर्य की भाँति चारों ओर फैल रहा है। कहीं इसे छू मत लेना। नहीं तो जलकर भस्म हो जाओगे।"

पहले हंस की बात सुनकर भलाक्ष नामक हंस बोला, "तुम्हारा खयाल गलत है। तुम उस बैलगाड़ी वाले रैक्व को नहीं जानते। इसीलिए ऐसी बात कर रहे हो। बैलगाड़ी वाले रैक्व का तेज जानश्रुति से भी बढ़कर है।"

"बैलगाड़ी वाला रैक्व! यह बैलगाड़ी वाला रैक्व कौन है?" पहले हंस से पूछा, "मैं उसे नहीं जानता, जरा बतलाओ तो सही!"

इसपर भलाक्ष नामक हंस ने कहा, "भाई, बैलगाड़ी वाले रैक्व की महिमा का बखान करना मुश्किल काम है। प्रजा जो भी शुभकर्म अथवा पुण्य करती है, उन कर्मों का सारा फल रैक्व के भीतर है—बाहर नहीं।" भलाक्ष ने बतलाया, "प्रजा चाहे जितना सत्कर्म करे, उसका सारा श्रेय रैक्व को प्राप्त होता है।"

राजा जानश्रुति हंसों की बातें चुपचाप ध्यानपूर्वक सुन रहा था। लेकिन इतनी बातें करके ही वे दोनों हंस तेजो से उड़े और अपने साथियों से जा मिले। राजा जानश्रुति ने मन-ही-मन सोचा—इस संसार में चाहे जितने पुण्य किए जायँ, चाहे जितना दान किया जाय, आत्म-ज्ञान से अधिक इनका फल नहीं होता। आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ये सारी चीजें,

उसके सामने फीकी पड़ जाती हैं। आत्मा का ज्ञान करने पर सभी फल अपने-आप मनुष्य में आ जाते हैं।

राजा जानश्रुति ने सोचा—उसने सब कुछ दान किया है। पाठशालायें खोली हैं, धर्मशालायें बनवाई हैं—लेकिन उसने आत्मा का ज्ञान कहाँ प्राप्त किया? राजा के मन में रैक्व के प्रति श्रद्धा का भाव जागा। रैक्व के लिए उसके हृदय में सम्मान का भाव जाग पड़ा। उसने सोचा—अब किसी प्रकार रैक्व के दर्शन करने चाहिएँ। क्योंकि रैक्व के दर्शन मिलने पर, उससे यह भी प्रार्थना की जा सकती है कि वह राजा जानश्रुति को ब्रह्म-विद्या की शिक्षा दे। कर्म में तो जानश्रुति सबसे आगे है ही, फिर यदि ज्ञान भी वह प्राप्त कर ले, तब तो संसार में उसके मुकाबले का कोई नहीं होगा।"

इसी चिन्ता में राजा जानश्रुति बहुत कुछ सोचते-सोचते सो गए। सुबह होने पर बंदी-गण साम-गान गाने लगे। संगीत के मधुर स्वर कानों में पड़ने के कारण राजा की नींद टूट गई। संगीत को सुनकर उसके हृदय में एक प्रश्न उठा—यह वंदना ठीक नहीं। यह वंदना मेरी होनी चाहिए या राजा जानश्रुति की—या उस ब्रह्म-ज्ञानी रैक्व की?

उन्होंने बाहर की ओर आवाज़ दी, "कोई है?"

"आज्ञा हो, महाराज !" दास हाज़िर हो गया।

"सारथी को बुलाओ।" राजा जानश्रुति ने कहा।

"जो आज्ञा !" कहकर सिर झुकाये दास लौट गया। कुछ ही क्षणों में सारथी राजा जानश्रुति के समक्ष आकर सिर झुकाये खड़ा हो गया। राजा जानश्रुति ने कहा, "सारथी !"

"महाराज !" सारथी बोला।

"देखो, तुम्हें अभी ही गाड़ी वाले रैक्व को ढूंढ़कर लाना होगा।" राजा जानश्रुति ने आज्ञा दी। सारथी उनके आदेश को समझ न सका, सिर झुकाये चुपचाप खड़ा रहा। उसके मुंह से कुछ न निकला।

"सोच क्या रहे हो ?" राजा जानश्रुति ने पूछा।

"महाराज, मैंने यह नाम पहले कभी नहीं सुना है। यह गाड़ी वाला रैक्व कौन है ?"

सारथी की बात सुनकर राजा जानश्रुति ने उससे वे सारी बातें कहीं, जिन्हें उसने हंसों के द्वारा सुनी थीं। सारथी ने कहा, "जो आज्ञा !"

राजा जानश्रुति का चतुर सारथी रथ लेकर बैलगाड़ी वाले रैक्व को खोज में निकल पड़ा। रैक्व का कहीं पता नहीं लगता था। रथ के घोड़े थक गए। रथ के पहिये घिसने लगे। सारथी, देश-विदेश, अनेक

दिशाओं में गया। रैक्व के विषय में मनुष्यों से पूछ-ताछ की, नदियों से पूछा, वृक्षों से पछा. मगर कहीं भो रैक्व का पता नहीं चला।

अन्त में निराश होकर सारथी लौट आया। जानश्रुति के सामने आकर उसने कहा, "महाराज, बैलगाड़ी वाले रैक्व को हर जगह खोजा। देश-देश गया, गाँव-गाँव गया मगर उसका कहीं पता नहीं चला। रथ के घोड़े थक गए। रथ के पहिये घिस गये। अन्त में विवश होकर मैं लौट आया।"

लेकिन सारथो की बातों से राजा जानश्रुति को शांति न मिली। उसने कहा, "तुमने बैलगाड़ी वाले रैक्व को ढूँढ़ने में भूल की है, सारथी! तुम्हें नहीं मालूम कि वे ब्रह्मज्ञानी हैं? ऐसे लोग गाँव में या शहरों में नहीं रहा करते। ऐसे लोग एकांत, शांत नदी के तट पर रहते हैं। पहाड़ों पर रहते हैं, गुफाओं में रहते हैं। तुम फिर जाओ, और ऐसे ही स्थानों में उनकी खोज करो। और हाँ, रथ के घोड़े बदल लो। रथ में नये पहिये लगवा लो।"

"जो आज्ञा महाराज!" सारथो ने कहा। उसने रथ में नये घोड़े जोत लिये। रथ में नये और मजबूत पहिये लगवा लिये और बैलगाड़ो वाले रैक्व की तलाश

में निकल पड़ा।

लेकिन इस बार भी रैक्व को खोजने में बड़ी कठिनाई हुई। सारथी ने देश-विदेश के अनेक पहाड़ों पर चक्कर लगाया। अनेक खोहों की यात्राएँ कीं, नदियों के किनारे-किनारे महीनों रथ हाँकता रहा। उसकी आँखें चारों ओर, रैक्व जैसे पुरुष को देखने के लिये नाचती रहीं। सारथी सोच रहा था कि शायद इस यात्रा में भी बैलगाड़ी वाले रैक्व के दर्शन न हो सकेंगे। महाराज के सामने कौन मुँह लेकर जाऊँगा?

इसी तरह सोचता हुआ, सारथी रथ को आगे बढ़ाता चला जा रहा था कि रास्ते में उसने देखा, एक पुरुष बड़े शांत चित्त से बैठा है। उसके शरीर से एक प्रकार का तेज निकल रहा है, और वह पुरुष बैठा-बैठा अपनी देह की खाज खुजला रहा है।

उस पुरुष का तेज देखकर सारथी ने बगल में रथ खड़ा कर दिया और आप रथ से उतर आया। रथ से उतरकर वह उस पुरुष के पास गया। उसने उसे सिर झुकाकर प्रणाम किया और बड़े ही विनम्रभाव से पूछा, "भगवन्, गाड़ी वाले रैक्व आप ही तो नहीं हैं?"

उस पुरुष ने पहले ध्यान से सारथी को देखा, फिर बड़े प्रेम-भाव से कहा, "हाँ, मेरा ही नाम रैक्व है।"

77816

आज सारथी की सारी मेहनत सार्थक हुई। उसने रैक्व के चरण-स्पर्श किये और रथ पर सवार होकर दौड़ा-दौड़ा राजधानी में आया। आज सारथी की खुशी की सीमा नहीं थी। वह दौड़कर राजमहल में गया, और राजा जानश्रुति के आगे झुककर बोला, "महाराज, बैलगाड़ी वाले रैक्व का पता चल गया। मैंने उन्हें देखा है, उनके शरीर से विचित्र प्रकार का तेज टपक रहा है।"

"सच ?" राजा ने खुशी से भरकर पूछा।

"हाँ, सच।" सारथी बोला।

"तो अभी उनके दर्शन के लिये चलना होगा।" राजा ने कहा।

"जो आज्ञा !" सारथी बोला।

रैक्व से मिलने की सारी तैयारियाँ हो गईं। राजा ने अपने साथ छः सौ गाएं, बेशकीमती हार और एक रथ लेकर यात्रा प्रारम्भ कर दी। आज राजा जानश्रुति की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी।

सारथी के साथ राजा जानश्रुति वहीं पहुँचा, जहाँ उसने रैक्व को देखा था। रैक्व के निकट पहुँचकर राजा जानश्रुति ने उनके चरण छुए और कहा, "महाराज, कृपया आप ये छः सौ गाएं, यह हार ग्रहण कर लें।

और कृपा कर मुझे आत्म-ज्ञान की शिक्षा दीजिए।"

लेकिन राजा जानश्रुति की बात सुनकर रैक्व को प्रसन्नता न हुई। क्योंकि राजा ने रैक्व को दान देकर खुश करना चाहा था। राजा ने भूल की थी। उस युग में तो विद्या सीखने के इच्छुक लोग गुरु की सेवा करते थे, ब्रह्मचारी रहते थे। गुरु की आज्ञा मानते थे, और जब गुरु खुश होते तो वे शिष्य को शिक्षा देते थे। लेकिन राजा जानश्रुति ने ऐसा कहाँ किया था? इसलिए रैक्व ने अप्रसन्न होकर राजा से कहा, "अरे नीच, ये गाएँ और यह हार तुम्हारे पास ही रहें। मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है।"

उस युग में ऋषि और महात्माओं में बड़ा तेज होता था। सभी राजे-महाराजे उनसे डरते थे। इसी-लिए रैक्व के मुख से 'नीच' शब्द सुनकर भी राजा जानश्रुति चुप रहा। उस रोज राजा उनके पास से लौट आया। लेकिन राजा दूसरे रोज एक हज़ार गाएँ, एक हार, रथ और विवाह के योग्य अपनी परम सुन्दरी कन्या को लेकर रैक्व के पास पहुँचा। उसने रैक्व के चरण-स्पर्श किए और कहा, "ये सारी चीज़ें आपकी हैं। आप कृपा कर इस कन्या से विवाह कर लें। आप जिस गाँव में रहते हैं, आज से यह गाँव भी आपका हो

गया। अब कृपा कर मुझे आत्म-ज्ञान की शिक्षा दें।'

न जाने क्यों, इस बार रैक्व राजा पर प्रसन्न हो गए। उन्होंने कहा—"यह जो राज-कन्या तुम उपहार के लिये ले आये हो अच्छा किया है। अब मैं तुम्हें आत्म-ज्ञान की शिक्षा दूंगा।"

वास्तविकता यह थी कि ऋषि रैक्व अपनी तपस्या पूरी कर गृहस्थ-जीवन बिताना चाहते थे। लेकिन न तो उन्हें काफी सम्पत्ति मिल रही थी और न अच्छा गृहस्थाश्रम मिल रहा था। और आश्रम के अभाव में ही वे बैलगाड़ी के नीचे सोकर अपना जीवन बिताते जा रहे थे।

रैक्व का विवाह राजा जानश्रुति की कन्या से हो गया। आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर रैक्व ने गृहस्थ-घर बसाया और रैक्व ने तब राजा जानश्रुति को आत्म-ज्ञान की शिक्षा दी। आत्म-ज्ञान के लिये गृहस्थ राजा जानश्रुति को गृह-त्याग नहीं करना पड़ा। ये दोनों व्यक्ति गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए भी बहुत बड़े ब्रह्मज्ञानी हुए।

दक्षिणा या दान के स्वरूप राजा जानश्रुति ने रैक्व को जो गाँव दिया था, आज भी वह गाँव महा वृष देश में 'रैक्वार्पण' नाम से प्रसिद्ध है।

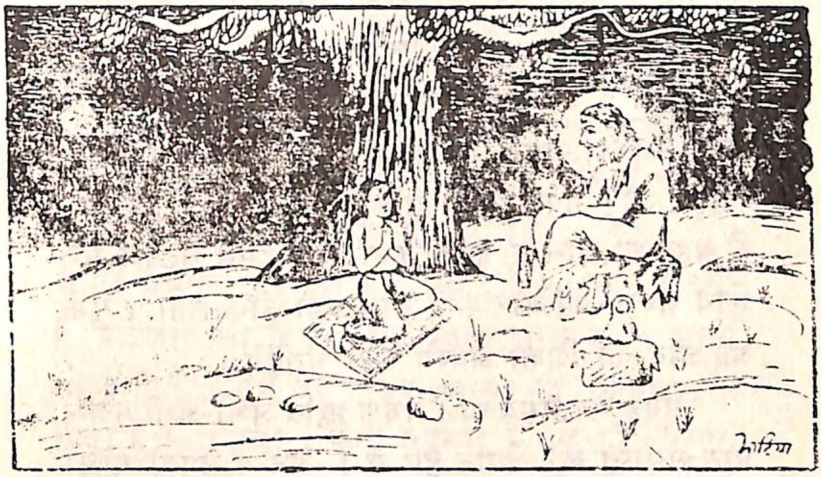

वरुण ऋषि और भृगु

प्राचीन युग की कथा है। उस समय एक बहुत बड़े ऋषि थे। उनका नाम था वरुण। वे बहुत बड़े ब्रह्मज्ञानी थे। उनके ब्रह्मज्ञान की महिमा देश के कोने-कोने में फैली थी। बड़े-बड़े लोग उनके पास ज्ञान की प्राप्ति के लिए आया करते थे।

वरुण ऋषि के एक ही पुत्र था—भृगु। वह चारों वेदों का प्रकांड पंडित था। गुरुकुल में रहकर, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए, उसने शिक्षा पाई थी। एक रोज भृगु को अपने-आप पर ग्लानि होने लगी। उसने

सोचा, मैं चारों वेदों का पंडित तो हो गया हूँ लेकिन मैंने ब्रह्म का ज्ञान नहीं प्राप्त किया। मेरे तो पिता ही ब्रह्मज्ञानी हैं। उनका यश चारों ओर फैला हुआ है। लोग उनका इतना सम्मान करते हैं कि जिसका अन्त नहीं। और अपने पिता ही के ब्रह्मज्ञानी रहते हुए यदि मैं ब्रह्म का ज्ञान न प्राप्त करूँ, तो इससे बढ़कर मेरे लिये लज्जा की और कोई बात नहीं हो सकती। मुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा अवश्य लेनी चाहिये।

सुबह का समय था। वरुण ऋषि अभी-अभी पूजा-पाठ समाप्त कर तैयार हुए थे। अब वे अपनी गौओं की सेवा में लगना चाहते थे। मधुर-मधुर हवा बह रही थी। आश्रम की गौएँ डकार रही थीं। चारों ओर पवित्र शांति फैल रही थी। इसी समय भृगु अपने पिता के पास आकर बैठ गये। वरुण ऋषि ने पूछा, "क्या चाहते हो, पुत्र ?"

भृगु ने कहा, "पिताजी ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि ब्रह्म क्या है ? कृपया, आप मुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दीजिए।"

वरुण ऋषि ने भृगु की बातें सुन लीं। उन्हें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि भृगु उनके पास ब्रह्मज्ञान की शिक्षा के हेतु आकर बैठा है। वे सोचने लगे, यह

कितनी अच्छी बात है कि मेरा पुत्र आज मेरा शिष्य होना चाहता है ! जिस कुल में ब्रह्मज्ञानी जन्म लेते हैं, वह कुल सदा-सदा के लिए पूजा के योग्य रहता है। ब्रह्मज्ञानी जिस पृथ्वी पर वास करते हैं, वह पृथ्वी पूजा के योग्य होती है। ब्रह्मज्ञानी निर्जीव पदार्थ को भी छू देते है तो उसमें प्राण आ जाते हैं। लेकिन भृगु शायद बचपना तो नहीं कर रहा है ? वह क्या सोचता है, ब्रह्मज्ञान की शिक्षा लेना इतना आसान है, इतना सहज है ? इसमें तो कठिन तपस्या की आवश्यकता होती है। तपस्या ! कैसी तपस्या ? मन की तपस्या, शरीर की तपस्या, हृदय की तपस्या, वाणी की तपस्या। तपस्या के तेज से मनुष्य में स्वयं इतना तेज आ जाता है कि मनुष्य ब्रह्म को समझ लेता है—ब्रह्म को पहचान लेता है—ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

वरुण ऋषि चाहते थे कि चाहे जैसे भी हो भृगु को ब्रह्म की शिक्षा देनी चाहिए। उन्होंने बड़े प्रेम-भाव से कहा, "अच्छी बात है, भृगु ! ब्रह्म कहीं और छिपा हुआ नहीं है। मन, प्राण और शरीर—ये तीनों ब्रह्म हैं। तुम इन्हीं तीनों को हृदय से जानो। तुम इन्हीं तीनों को ब्रह्म समझो।"

ऋषि-पुत्र भृगु बहुत होशियार थे। वेद के पंडित

थे। अपने पिता का इशारा समझते उन्हें देर न लगी। उन्होंने अपने पिता की वाणी से समझा—शरीर से यानी आँख से, नाक से, कान से, उन्हें तपस्या करनी होगी, मन से ब्रह्म का ध्यान करना होगा और प्राणों से ब्रह्म की पूजा करनी होगी। ऐसा करने पर ही ब्रह्म का ज्ञान संभव है। पिता से इसी बात का आदेश लेकर भृगु वहाँ से चलने को तैयार हो गए। जैसे ही वे उठकर वहाँ से चलने लगे कि वरुण ऋषि ने उन्हें पुकारा—"भृगु !"

"आज्ञा हो, पिताजी !" भृगु ने अपने स्थान पर रुककर कहा।

वरुण ऋषि ने पहले भृगु की ओर देखा। फिर कहा, "बेटा, क्या तुम सचमुच ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो ? देखो, जिससे यह सारा संसार पैदा होता है, पैदा होकर फिर जिसके सहारे यह टिका रहता है और अन्त में एक रोज जिसमें समा जाता है—वही ब्रह्म है। जाओ, तुम इसी पर विचार करो। इसी पर सोचो और समझो।"

भृगु को ऐसा लगा कि इस बार उसे पहले से कुछ अधिक ब्रह्म का ज्ञान हो गया है। भृगु ने समझा कि ब्रह्म सभी के भीतर है, वही सबके बनाने वाले

हैं, वही सब का पालन-पोषण करते हैं और अन्त में, सभी उन्हीं में लय हो जाते हैं। ब्रह्म का प्रकाश ही संसार का वास्तविक प्रकाश है।

भृगु ने बड़े भक्ति-भाव से पिता के चरण छूए और वहाँ से सिर झुकाए चुपचाप चल पड़े। भृगु ने उसी रोज से ब्रह्म की महान तपस्या प्रारम्भ कर दी। दिन बीतने लगे। एक रोज भृगु को इस बात का ज्ञान हो आया कि अन्न ही ब्रह्म है। अन्न से ही सारे जीव पैदा होते हैं। अन्न से ही सभी जीते हैं और अन्त में ही एक रोज उन्हें मिल जाना होता है। लेकिन भृगु का यह ज्ञान टिक न सका। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि उन्होंने समझने में भूल की है। भृगु का मन चंचल हो गया। वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे। वे सोचते थे कि इसका निर्णय शीघ्र होना चाहिए। लेकिन इसका निर्णय कहाँ हो, किसके पास हो? उन्होंने सोचा, पिता जी के पास चलना चाहिये। पिता जी के पास आकर उन्होंने कहा—"पिताजी, ब्रह्म क्या है, मैं समझ न सका। कृपा कर मुझे बतलाइए, ब्रह्म क्या है?"

वरुण ऋषि भृगु के प्रश्न को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने यह समझा कि पुत्र तपस्या में हृदय से

लग गया है। उन्होंने तनिक और खोलकर भृगु से कहा, "वत्स ! जाओ, तपस्या करो। तपस्या से ही ब्रह्म को शक्ति जानोगे। तपस्या के सिवाय इसके लिये और कोई रास्ता नहीं है।"

पिता के पास से लौटकर भृगु फिर तपस्या में लग गये। इस बार उन्होंने यह जाना कि अन्न में तो ब्रह्म है ही—लेकिन वह जड़ है—निर्जीव है। असल में तो वह प्राणों के बल पर ही टिक सकता है। जड़ के पीछे भी सारा खेल प्राणों का ही है। इसलिए भृगु ने मन में यह निश्चय किया —प्राण हो ब्रह्म है।

परन्तु संशय से ही तो मनुष्य खोज के लिए आगे बढ़ता है। शंका ही तो मनुष्य को समाधान के रास्ते खोजने की प्रेरणा देती है। भृगु ने अभी जो कुछ निश्चय किया था, उनका वह निश्चय फिर टूट गया। वे सोचने लगे कि उन्होंने जो कुछ सोचा है—यह कैसे मान लिया जाय कि ठीक सोचा है? उनमें फिर वह पहले की सी चंचलता हो आई। उन्होंने सोचा—इस शंका-समाधान के लिए पिता जी के पास चलना चाहिए। और भृगु अपने पिता जी के पास फिर चले आये। आकर उन्होंने अपने पिता जी के चरण स्पर्श-किए और कहा, "पिता जी,

मैं समझ नहीं रहा हूँ कि ब्रह्म क्या है ? कृपया मुझे ब्रह्म की शिक्षा दीजिये।"

वरुण ऋषि इस बार बहुत खुश हुए। उन्होंने सोचा—मेरा पुत्र अपनी तपस्या में आगे बढ़ रहा है। उसे अपनी साधना पर विश्वास होता चला जा रहा है। इस प्रकार उसने सफलता की वे सीढ़ियाँ पार कर ली हैं। हृदय में अपार प्रसन्नता होते हुए भी उन्होंने भृगु से पुनः कहा, "इसका ज्ञान तपस्या से ही हो सकता है। वत्स ! जाओ, शरीर, मन और प्राणों से तपस्या करो। इसी की सिद्धि से ब्रह्म को जान पाओगे।"

भृगु ने सोचा--पिताजी बार-बार तपस्या पर ही जोर दे रहे हैं। उनका कहना है कि तपस्या से ही ब्रह्म को पाओगे, जैसे तपस्या ही ब्रह्म है। बात भी सही है। अब तक मेरे हृदय में जो भी प्रकाश आया है, जो भी समझ आई है—वह सब तपस्या का ही तो फल है। इसलिए तपस्या में कमी नहीं करनी चाहिए।

इस बार भृगु फिर बड़ी तपस्या में पिल पड़े और उन्होंने जाना कि मन ही ब्रह्म है। लेकिन फिर उन्हें संशय हुआ। वे पिता के पास पहुँचे। उन्होंने पिता से फिर ब्रह्म की शिक्षा देने की बात कही।

वरुण ऋषि भृगु की बात से पहले की अपेक्षा और

अधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा—तपस्या से भृगु की आँखें खुल रही हैं। वह धीरे-धीरे ब्रह्म-ज्ञान की सीढ़ियों पर चढ़ता चला आ रहा है। ब्रह्म के तेज से भृगु के मुख पर एक विचित्र तेज झलकता आ रहा था। लेकिन वरुण ऋषि एकाएक उसे आप-ही-आप ब्रह्म का पूरा ज्ञान नहीं कराना चाहते थे। एकरस तपस्या करके वह स्वयं ज्ञान को ढूंढ़ निकाले—वरुण ऋषि ने ऐसा ही सोचा।

वे भृगु को बतलाना चाहते थे कि मनुष्य अपना मित्र अपने-आप बनता है—मनुष्य अपना शत्रु अपने-आप बनता है। उन्होंने भृगु से कहा, "बेटा, तुम अपने को अपना मित्र बनाओ। तपस्या से बढ़कर ब्रह्म-ज्ञान देने वाला और कोई नहीं। जाओ, तपस्या करो और ब्रह्म को विशेष रूप से समझो।"

भृगु को बार-बार अपने पिता के इस आदेश से कुछ कष्ट अवश्य हुआ मगर वे पिता की आज्ञा को कैसे टालते? वे फिर तपस्या में लग गये—घोर तपस्या में। ओह, लेकिन तपस्या कितनी कठोर है! परन्तु, तपस्या में कितना आनन्द है! कितना आराम, संतोष है!! कितनी निर्मलता है!!!

तपस्या के बल से धीरे-धीरे भृगु को आँखें खुलने

लगीं। अब उसे आनन्द मिलने लगा है—किन्तु समस्या का समाधान नहीं। लगता है, उन्हें अभी ब्रह्म-ज्ञान की पूर्णता नहीं मिली है। वे समुद्र की गर्जना तो सुन रहे हैं, लेकिन समुद्र है कहाँ ? वे सूर्य की छिटकी किरणें तो देख रहे हैं—लेकिन सूर्य के दर्शन कहाँ हो पाते हैं ? वे दौड़े हुए फिर पिता के पास पहुँचे। उनके चरणों को स्पर्श कर कहा, "पिताजी, मैं अब तक ब्रह्म को नहीं जान सका, कृपया मुझे ब्रह्म की शिक्षा दीजिए।"

वरुण ऋषि को फिर प्रसन्नता हुई कि भृगु तपस्या में सीढ़ियों को पार कर रहा है। भृगु की आँखों में तेज, ब्रह्म का तेज, बढ़ता आ रहा था। साधना से उनकी बुद्धि की मैल धुलती जा रही थी। उन्होंने भृगु से कहा, "जाओ, तपस्या ही से ब्रह्म का ज्ञान मिलेगा। जाओ, तपस्या करो।"

पिता की बातों से भृगु को निराशा न हुई। वे वहाँ से फिर लौटे और अपनी तपस्या में लग गये। इन्हीं दिनों की बात है। तपस्या में लगे हुए भृगु की आँखें खुल गईं और उनके मुख से निकला—'जान लिया, आज मैंने ब्रह्म को जान लिया। आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द ही पर सारी सृष्टि टिकी हुई है और

इसी आनन्द में एक रोज सबको समा जाना है। आनन्द ही ब्रह्म है ! आनन्द ही ब्रह्म है !!'

बड़ी कठिन तपस्या करके भृगु ने ब्रह्म का यह ज्ञान प्राप्त किया था। बुद्धि की शक्ति की ओट में ही ब्रह्म का प्रकाश छिपा होता है। तपस्या की आँखों में ब्रह्म अपने को प्रकट करते हैं। यह आनन्द ही सत् है—शुद्ध ज्ञान है। इसीलिए तो लोग उस ब्रह्म को सच्चिदानंद कहते हैं।

अब भृगु की सारी शंकाएँ दूर हो गईं। आज वे तपस्या के द्वारा जान सकते हैं कि आनन्द ही ब्रह्म है। तपस्या ही ब्रह्म है ! तपस्या ही गुरु है !! तपस्या ही आचार्य है !!!

वरुण ऋषि के उपदेश देने पर इस विद्या को 'भार्गवी वारुणी विद्या' कहते हैं। यह विद्या इसी नाम से प्रसिद्ध है। आनन्द ही ब्रह्म है, यह विद्या इसी विद्या का सार है।

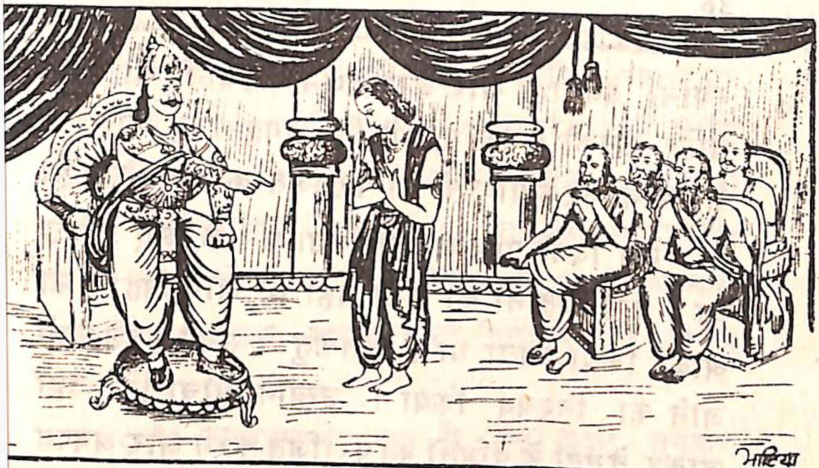

राजा प्रवाहण और श्वेतकेतु

पुराने युग की कथा है। अरुणि ऋषि के एक पुत्र था, जिसका नाम था—श्वेतकेतु। श्वेतकेतु वास्तव में बड़े विद्वान् थे। अपने योग्य पिता की देख-रेख में उन्होंने वेद की अपार शिक्षा प्राप्त की थी। आस-पास के ऋषि-पुत्र उनकी विद्वता का लोहा मानने लगे थे।

एक रोज श्वेतकेतु को यह विश्वास हो गया कि अब वे बड़े पण्डित हो गये। उनसे शास्त्रार्थ करने में शायद ही कोई बाजी मार ले। इसलिए उन्होंने देश-भ्रमण करना चाहा। देश-भ्रमण से उनका मतलब यह नहीं था कि वे देश-देश जाकर वहाँ के तीर्थ-

स्थानों, देवताओं और अन्य दर्शनीय स्थानों को देखें। बल्कि उनकी इच्छा यह थी कि जगह-जगह जाकर वे शास्त्रार्थ करके पण्डितों को पराजित कर यश कमाएँ।

उन दिनों पांचाल देश विद्या-धन के लिए प्रसिद्ध था। वहाँ विद्वानों की कमी नहीं थी और विद्वान् का आदर किया जाता था। श्वेतकेतु ने सबसे पहले वहीं जाने का निश्चय किया। उन्होंने सोचा कि वहाँ जाकर वे वहाँ के पंडितों को पराजित करेंगे और अवश्य ही यश की प्राप्ति होगी। वे जितने ही विद्वान् थे, उतने ही अभिमानी थे। इसी अभिमान से भरकर उन्होंने सोच लिया कि वहीं जाकर वहा के राजा और राज-सभा को चुटकी बजाकर जीत लेंगे और यही सोचकर वे पांचाल देश के लिए चल पड़े। कुछ ही रोज की यात्रा समाप्त कर वे पांचाल देश के राज-दरबार में आ उपस्थित हुए। उस समय जीवत राजा के पुत्र राजा प्रवाहण राज-सिंहासन पर विराजमान थे। आज से बहुत रोज पहले राजा प्रवाहण के कानों में यह बात पड़ चुकी थी कि श्वेतकेतु को अपनी विद्या के लिए बड़ा अभिमान है।

अब जब राजा प्रवाहण ने देखा कि श्वेतकेतु उनके दरबार में स्वयं पधारे हुए हैं तो उन्हें बड़ा

आश्चर्य हुआ। उन्होंने श्वेतकेतु को उचित स्थान पर बड़े आदर-भाव से बिठाया। राज-दरबार में शांति छा गई। राजा प्रवाहण ने बड़े प्रेमपूर्वक श्वेतकेतु से पूछा, "ऋषिकुमार! आपके यहाँ आने से हमारा दर-बार पवित्र हो उठा है। लेकिन मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि क्या आपने अपने पिता से कुछ उपदेश प्राप्त किया है?"

राजा प्रवाहण के मुख से ऐसा प्रश्न सुनकर श्वेतकेतु को क्रोध आया। उन्होंने मन-ही-मन कहा— 'राजा, तू कितना अभद्र है! तू कितना नीच है!! क्या अपने यहाँ आये विद्वान् की यूंही प्रतिष्ठा की जाती है?' लेकिन श्वेतकेतु ने चालाकी से काम लिया। आवेश में उन्होंने, प्रत्यक्ष भाव से, राजा को कुछ न कहा बल्कि ऊपर से सम्मान का भाव दिखलाते हुए वे बोले, "हे भगवन्, मैंने अपने पिता से शिक्षा ग्रहण की है।"

"अच्छी बात है, ऋषि कुमार! मैं आपसे कुछ जानना चाहता हूँ। क्या आप मेरे प्रश्नों के उत्तर दीजिएगा?" राजा प्रवाहण ने पूछा।

"क्यों नहीं, अवश्य दूंगा।" बोले श्वेतकेतु।

श्वेतकेतु के इस प्रकार कहने पर राजा प्रवाहण

ने उनसे जन्म-मृत्यु के सम्बन्ध में कई ऐसे प्रश्न किये, जिनका सीधा सम्बन्ध ब्रह्म-विद्या से था। लेकिन श्वेतकेतु चुपचाप राजा का मुँह देखते रह गये। बड़े दुःख के साथ श्वेतकेतु ने अपने प्रश्न के उत्तर में कहा, "मैं नहीं जानता, भगवन् !"

मारे शर्म के श्वेतकेतु का सिर झुक गया। उनका सारा घमण्ड दूर हो गया। उनके अभिमान का पहाड़ गलने लगा। अब यश कमाने की बात ही समाप्त हो गई। श्वेतकेतु ने वेद का अध्ययन किया था, मगर ब्रह्म-विद्या तो वे बिलकुल ही नहीं जानते थे। उनके चेहरे का तेज गायब हो गया। वे भरी सभा में चुपचाप अपनी जगह पर सिर झुकाये खड़े रहे।

इसपर राजा प्रवाहण ने श्वेतकेतु को सम्बोधित करते हुए कहा, "देखो ऋषिकुमार ! तुम तो मेरे एक सवाल का भी जवाब नहीं दे सके। और चारों ओर अपनी विद्वता का ढोल पीटते फिरते हो। याद रखो, जो ब्रह्म-विद्या को नहीं जानता, उसे अपने को शिक्षित कहने का अधिकार नहीं मिलना चाहिये।" और इस प्रकार उस क्षत्रिय राजा प्रवाहण ने उस ऋषिकुमार श्वेतकेतु के विद्या के अभिमान को कुछ ही क्षणों में चूर-चूर कर दिया।

श्वेतकेतु का मस्तक भरे दरबार में झुक गया। शोक, लज्जा और दुःख के साथ श्वेतकेतु अपने पिता के पास लौट आये। क्रोध और शोक से उनका चेहरा पीला पड़ गया था। वे अपने पिता के पास आये और मुँह लटकाकर बैठ गये। पिता ने उनसे पूछा, "इस तरह उदास क्यों हो, श्वेतकेतु ?"

"पिताजी !" श्वेतकेत के मुँह से केवल इतना ही निकला।

"श्वेतकेत !" अरुणि ऋषि बोले।

"आपने मुझे कोई विशेष प्रकार की शिक्षा क्यों नहीं दी ?"

"क्यों, क्या हुआ, वत्स ?" अरुणि ऋषि ने पूछा।

"आपने मुझे वेद-वेदान्त की साधारण शिक्षा दी और मुझे बहला दिया कि तुम्हें सभी विद्याओं का ज्ञान करा दिया।"

"यह तो सही है। मैंने सारी विद्याओं का ज्ञान कराया था।" अरुणि बोले।

"नहीं, यह बात असत्य है।"

"वह कैसे ?" अरुणि ऋषि ने पूछा।

"मैं पांचाल देश के राज-दरबार में शास्त्रार्थ के द्वारा यश-अर्जय के हेतु गया था। वहाँ के राजा

प्रवाहण ने मुझसे एक-एक कर पाँच प्रश्न किए और मैं उनमें से एक का भी उत्तर न दे सका। उस नीच क्षत्रिय राजा ने भरे दरबार में मेरा अपमान किया, और मेरा अपमान क्यों न होता ? सचमुच मैं उसके एक प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे सका। मेरे लिए इससे बढ़कर दुःख की और बात क्या हो सकती है ? मैं तो वहाँ बिल्कुल गूंगा बना खड़ा रहा।" श्वेतकेतु ने ऋषि अरुणि से इस प्रकार अपने अपमानित होने की बातें कहीं।

"प्रवाहण ने कैसे प्रश्न किये थे, वत्स ?" अरुणि ने पूछा। और उत्तर में श्वेतकेतु ने पाँचों प्रश्न उन्हें सुना दिए थे, जिन्हें राजा प्रवाहण ने उनसे पूछा था। प्रश्नों को सुनकर अरुणि बोले, "तुमने जो प्रश्न बतलाए उन्हें मैंने सुन तो लिया, वत्स, लेकिन मैं इन्हें तनिक भी नहीं समझ सका। मैं तो स्वयं इस विषय को नहीं जानता। फिर तुम्हीं कहो, मैं तुम्हें ऐसे विषय में पंडित कैसे बना सकता था ?"

श्वेतकेतु का क्रोध अब कुछ शांत हुआ। उन्हें अपने पिता की अनभिज्ञता पर सन्तोष हुआ। लेकिन ऋषि को इससे सन्तोष न हुआ। उन्होंने श्वेतकेतु से कहा, "अच्छा वत्स ! तुम शान्त रहो। मैं स्वयं राजा

प्रवाहण के पास जाता हूँ और उनसे ब्रह्म विद्या की शिक्षा लेकर ही लौटूंगा। राजा प्रवाहण नीच नहीं, वह महान् हैं। जो मैं नहीं जानता, उसे वह जानते हैं।"

दूसरे रोज ही अरुणि ऋषि ब्रह्म-विद्या की शिक्षा के लिए पांचाल देश की राजधानी में चले आए। उनके हृदय के भीतर ब्राह्मण और ऋषि होने का जो अभिमान था, उसे उन्होंने स्वयं अपने से अलग कर दिया। उन्होंने वह तनिक भी आगा-पीछा न सोचा कि पांचाल के क्षत्रिय राजा के पास शिक्षा ग्रहण के हेतु उनके जाने से, ब्राह्मण वंश की मर्यादा पर चोट पहुँचेगी। बड़े लोगों के यही तो लक्षण हैं कि जिनके पास ज्ञान होता है, विद्या होती है, उन्हें हमेशा अपने से बड़ा और महान मानते हैं। यह वही असनि-गौतम थे, जिन्होंने सबसे पहले विद्या के लिये छलिया अनुशासन को हृदय से स्वीकार किया था। अनुशासन का क्या अर्थ होता है? अनुशासन का अर्थ होता है—ईश्वर की आज्ञा और परम्परा से पाया हुआ ज्ञान।

अरुणि ऋषि जब राजा प्रवाहण के दरबार में गए तो राजा प्रवाहण ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया और उन्हें यथायोग्य आसन पर बिठाया। ऋषि

थके हुए थे। उस रोज ऋषि ने राजमहल में आराम किया। दूसरे रोज वे फिर राज-सभा में ससम्मान बिठाये गए। राजा प्रवाहण ने उनके आगे हाथ जोड़कर कहा, "भगवन्, आपके दर्शन से मैं कृतज्ञ हो गया हूँ। मनुष्य को प्रिय लगने वाले जितने प्रकार के धन हैं, आप कृपा कर मुझसे उन्हें माँग लें। मैं आपके इच्छित धन आपके चरणों में हाजिर करना चाहता हूँ।"

ब्रह्म-शिक्षा का अच्छा मौका देखकर अरुण ऋषि ने वही विनम्रतापूर्वक कहा, "राजन्, आप अपना सारा धन-ऐश्वर्य अपने पास ही रखें। मैं आपके पास शिक्षा लेने आया हूँ। आपने मेरे पुत्र श्वेतकेतु से जो पाँच प्रश्न किये थे, कृपा करके मुझे उन प्रश्नों को समझाइए। मैं और किसी प्रकार का धन नहीं चाहता। कृपा कर मुझे यही दान दीजिए!"

अरुणि ऋषि की यह बात सुनकर राजा प्रवाहण जरा चिंता में पड़ गए क्योंकि अब तक ब्रह्म-विद्या का ज्ञान केवल क्षत्रियकुमार ही प्राप्त कर रहे थे और अरुण ऋषि ब्राह्मण और विद्याओं के पंडित थे, अतः उन्हें ब्रह्म-विद्या का ज्ञान अब तक नहीं हो पाया था। इस विद्या की पढ़ाई अब तक क्षत्रिय लोगों में ही होती चली आ रही थी और क्षत्रिय ही इस विषय के आचार्य होते

थे। इसीलिए स्वाभाविक ढंग से राजा प्रवाहण को इसके लिए चिंता हुई। लेकिन टालने का कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था। अरुण ऋषि उनके अतिथि जो थे। अतिथि को माँग ठुकराना तो भारतीय सभ्यता के विरुद्ध है। उन्होंने सोचा—आज से यह विद्या ब्राह्मण-घर में जायेगी। ब्राह्मणों के पास फिर और लोग इस विषय को सीखने जायेंगे। ब्राह्मण लोग शेष जाति को भी इस विचार की शिक्षा देने लगेंगे तो उस दिन क्षत्रिय वंश के गौरव का विनाश हो जायेगा।

परन्तु, अब राजा प्रवाहण के सामने अरुणि ऋषि के अनुरोध को टालने का कोई उपाय न था। उन्होंने मीठी वाणी में ऋषि से कहा, "भगवन्, आपको इस विद्या की प्राप्ति के लिए यहाँ बहुत दिनों तक वास करना पड़ेगा। इसके लिए आप कदापि दुःखी न होंगे। आपके पहले इस विद्या को क्षत्रियों के सिवा और किसी ने नहीं प्राप्त किया था। क्या आप यहाँ बहुत दिनों तक वास करना पसन्द करेंगे, भगवन् ?"

"अवश्य राजन्, मैं यहाँ बड़ी प्रसन्नता से वास करूँगा।" अरुणि ऋषि बोले।

ऋषि ने राजा प्रवाहण के आदेश को स्वीकार कर लिया। वे राजा प्रवाहण के यहाँ रहने लगे।

राजा प्रवाहण ने उनके रहने के लिए उचित व्यवस्था कर दी। ऋषि उनसे ब्रह्म-विद्या की शिक्षा ग्रहण करने लगे। अपनी कठिन तपस्या, लगन और निष्ठा के कारण अरुणि ऋषि ने कुछ ही दिनों में ब्रह्म-विद्या का ज्ञान प्राप्त कर लिया और फिर राजा प्रवाहण की आज्ञा मिलने पर हो अपने आश्रम में लौटे।

ऋषिकुमार श्वेतकेतु को जब अपने पिता के दर्शन हुए तो उन्होंने अपने पिता से राजा प्रवाहण के ब्रह्म-ज्ञान के विषय में पूछ-ताछ की। अरुणि ऋषि ने कहा, "ब्रह्म-विद्या के आदर्श के रचने वाले आचार्य क्षत्रिय ही हैं, वत्स ! ब्रह्म-विद्या के ज्ञान से मनुष्य परम आनन्द सच्चिदानन्द को प्राप्त करता है। बिना ब्रह्म-विद्या के ज्ञान के संसार के सभी ज्ञान निस्सार हैं।"

"अब तो आप मुझे ब्रह्म-विद्या का ज्ञान दे सकते हैं ?" श्वेतकेतु ने पूछा।

"अवश्य। अब मैं तुम्हें ब्रह्म-विद्या का ज्ञान दे सकता हूँ परन्तु, तुम सोच लो कि ज्ञानार्जन का तुममें कभी अभिमान न आने पाये।" ऋषि बोले।

"ऐसा ही होगा, पिता जी !" श्वेतकेतु ने कहा और तब अरुणि ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्म-विद्या की शिक्षा दी।

सत्य की जय

ज्वाला ने अपने पुत्र का नाम रखा था—सत्य-काम ! लेकिन सत्यकाम भी अपने नाम के अनुकूल ही था। जैसा नाम था—वैसा गुण भी था। वस्तुतः सत्य-काम अपनी माता का ऐसा ही पुत्र था। ज्वाला का इस संसार में सत्यकाम के सिवा अपना कोई न था। इसलिए सत्यकाम भी संसार में अपनी माता के सिवा किसी और को नहीं जानता था। दोनों एक-दूसरे के जीवन के आधार थे।

बहुत दूर-दूर तक फैली हुई नदी के तट पर एक बहुत बड़ा जंगल था। ज्वाला अपने पुत्र, सत्यकाम

को लेकर वहीं रहती थी। सत्यकाम निकट के गाँव के बच्चों के साथ खेला करता था। लेकिन समय जाते देर नहीं लगती। वे बच्चे धीरे-धीरे बड़े हो गए और अपने माता-पिता की आज्ञा पाकर विद्या सीखने के लिये गुरु के पास चले गये। इधर सत्यकाम भी बड़ा हो गया था। मित्रों के अभाव में उसका भी मन नहीं लगता था। उसने भी सोचा, अब विद्या सीखने के लिये गुरु के पास चलना चाहिये। उसने अपनी माता ज्वाला से कहा, "माँ, अब मैं भी चाहता हूँ कि गुरु के पास विद्या सीखने जाऊँ। जरा यह तो बताओ कि मेरा गोत्र क्या है ?"

सत्यकाम के प्रश्न को सुनकर ज्वाला की आँखें टपटपा आईं। उसे अपने पिछले दिनों की घटनाएँ याद आ गईं। शोक से उसका सिर नीचे झुक गया। आँखों के आगे चिनगारियाँ छिटकने लगीं। ओह, वे दिन कितने भयंकर और कष्ट के थे ! ज्वाला की देख-भाल करने वाला कोई न था। वह बड़ी हो गई थी। पेट का कष्ट सहा नहीं जाता था। कौन ऐसा आदमी इस संसार में पैदा हुआ जिसने पेट की आग सह ली हो, जिसने संसार में रहते, कभी भोजन न किया हो ? ज्वाला जवान हो चुकी थी। पेट पालना

आवश्यक था। यह पेट पापी मानने वाला न था। चाहे जैसे भी हो, पेट का खर्च जुटाना आवश्यक था। विवश थी ज्वाला। विवशता ने उसे पुरुषों की दासी बनने के लिए विवश किया। उसने पुरुषों की सेवा की। अपना पेट पालना चाहा, सेवा करके, परिश्रम करके। लेकिन उस सत्य-भावना और सेवा-भावना का पुरस्कार मिला—एक अनुचित गर्भ। सत्यकाम गर्भ में आ गया। वह माता बनने को हो गई। लेकिन ज्वाला में अब मातृत्व की भावना हो आई थी। उसने गर्भ के शिशु को प्राणों से बढ़कर प्यार किया, उसे ईश्वर का दिया हुआ वरदान समझा। जिस रोज उसके पुत्र ने जन्म लिया, उसका हृदय स्नेह से छलकने लगा। उसने परमेश्वर का ध्यान कर आकाश की ओर भक्ति भाव से देखा और अपने पुत्र को लेकर वहाँ से चल पड़ी। वहाँ से चलकर वह इसी जंगल में आ गई और यहीं एक कुटी बनाकर अपने एकमात्र पुत्र सत्यकाम को लेकर रहने लगी। जंगल के फल-कंद खाकर ही वह अपने प्यारे पुत्र के साथ अपना समय बिताती और सत्यकाम को बड़े होने पर सुख भोगने की कल्पनाएँ किया करती थी। हाँ, तब से ज्वाला ने किसी की दासी बनना स्वीकार न किया। वह अपने नन्हे-से

खेलते-हँसते चहकते शिशु को देखकर खुश रहती और आकाश की ओर देख-देखकर भगवान् से जसे कहती, 'हे भगवान्, तुमने यह वरदान दिया है। इसकी रक्षा तुम करो।' वह सुन्दर और तेजस्वी सत्यकाम का मुख देख-देखकर अपने को धन्य समझती थी।

जंगल के विशुद्ध वातावरण, नदी के निर्मल जल और माता के पवित्र स्नेहांचल में पलकर वह बढ़ चला। चांद की तरह वह रोज-रोज बढ़ता। उसके सौंदर्य और मधुर स्वभाव को स्निग्ध चांदनी से ज्वाला का हृदय लाखों बार शीतल हो जाता। उसकी कजरारी आँखें, कमल के फूल जैसे कोमल और सुन्दर अंग-प्रत्यंग, उसकी सहज मधुर मुस्कान देखकर ज्वाला की प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती थी। ऐसे वातावरण में पलकर सत्यकाम वास्तव में सत्यकाम बन गया। साधारण लोगों के दोष उसमें तनिक भी न आ सके। राग-द्वेष से वह कोसों दूर रहने वाला लड़का निकला। अभिमान और ओछेपन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। अब ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह गुरुकुल में शिक्षा-ग्रहण करने योग्य हो चुका है।

और आज जब सत्यकाम ने यह इच्छा प्रकट की कि वह अब विद्या सीखना चाहता है तो प्रसन्नता से

ज्वाला की आँखें भर आईं, जैसे ज्वाला का लाखों वर्ष का सपना आज पूरा हो रहा हो। कितने कष्टों को झेलकर ज्वाला ने सत्यकाम को पाला-पोसा और बड़ा किया है। लेकिन साथ ही ज्वाला के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। सत्यकाम ने अपना गोत्र जानना चाहा है। अब ज्वाला उसके प्रश्न का क्या उत्तर दे कि उसका कौन-सा गोत्र है ? अगर आज तो इस प्रश्न का उत्तर देना ही पड़ेगा। बिना इसके काम नहीं चलेगा। और बिना गोत्र के बतलाये गुरु-कुल में प्रवेश पाना असम्भव है।

ज्वाला की आँखों में आँसू भर आये थे। ज्वाला ने एक ठंडी साँस खींचकर अपनी आँखें पोंछ लीं और सिर नीचा किये सोचने लगी—वेद का अध्ययन करने के अधिकारी ब्राह्मण ही तो होते हैं। क्षत्रिय और वैश्य भी गुरुकुल में जा सकते हैं। इन्हीं तीन वर्णों के तो गोत्र हैं। और यदि सत्यकाम अपना गोत्र न बता सका, तो ?

तो वह गुरुकुल में प्रवेश न पा सकेगा। और जब गुरुकुल में प्रवेश नहीं करेगा तो विद्या नहीं सीख पायेगा। और क्या बिना विद्या सीखे ही मेरा सत्य-काम मनुष्य हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं !

निर्दोष ज्वाला इससे अधिक और सोच ही क्या सकती थी ? उसने अपने अन्तःकरण से परमेश्वर को स्मरण किया। उसने हमेशा सत्य का सहारा लिया है। और, परमेश्वर के सिवा सत्य है ही क्या ? एक वही सत्य है जिसे कोई मार नहीं सकता, जिसे कोई जीत नहीं सकता। पतिता ज्वाला आज भी पवित्र हृदय वाली थी। उसके हृदय में असत्य के लिए कहीं भी स्थान नहीं था। उसने सोचा, लोग अपने-अपने वंश की प्रशंसा करते हैं, अपने पूर्वजों के नाम लेते हैं, लोग अपने सत्कर्म के कारण गौरव पाते हैं, देश-विदेश में आदर पाते हैं। लेकिन उसका पुत्र —सत्यकाम ? उसे तो कुछ नहीं मिल सका ! वह किसकी प्रशंसा पर आदर पा सकेगा ?

परन्तु ज्वाला को लगा कि यह सब कुछ व्यर्थ है। वंश की प्रशंसा निरर्थक है, गोत्र की ऊँचाई व्यर्थ है, पिता का नाम भी व्यर्थ है। वह अपने सत्यकाम को और कुछ न दे सकेगी। वह उसे सत्य का दर्शन कराना चाहती है। सत्यकाम को और कुछ नहीं चाहिए। उसे सत्य के दर्शन चाहिएँ। उसे सत्य की उपासना करनी चाहिए। जो सत्य को पा लेते हैं--वह सब कुछ पा लेते हैं। लेकिन इसके लिए उसे बहुत

बलवान होना पड़ेगा। उसकी आत्मा को सत्य का बल चाहिए। जिस दिन वह सत्य से डर जाएगा, संसार में उसकी प्रतिष्ठा का अधिकार लुप्त हो जायेगा।

ज्वाला ने सोचा, वह अपने पुत्र का परिचय स्वयं ही से दे। वह आज तक सत्य की रक्षा करती आई है। वह सत्य से कभी मुँह न मोड़ेगी। चिंतित ज्वाला का मुख लाल हो चला था। लेकिन एकाएक पूर्णिमा के चाँद की तरह उसके मुखपर प्रसन्नता की ज्योति दीप्त हो उठी। उसने सत्यकाम को बुलाकर अपनी गोद में बिठा लिया। उसने अपने पुत्र को बड़े प्यार से चूमा-चाटा और सत्य के रूप, परमेश्वर को याद करती हुई बोली, "बेटा, यह मैं भी नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। मुझे भरी जवानी के दिनों में कई जगह दासी का काम करना पड़ा था। जो उन्हीं दिनों मैं तुम्हें अपने गर्भ में पा सकी यही कारण है बेटा कि मैं तुम्हारा गोत्र नहीं जानती। कुछ सोचकर भी मेरे लिए यह बतलाना असंभव है कि तुम्हारा गोत्र क्या है। मगर इतना जान लो कि मैं तुम्हारी माता हूँ। मेरा नाम है—ज्वाला। तुम मेरे पुत्र हो; और तुम्हारा नाम है—सत्यकाम। तुम अपने गुरु से बतलाना कि

मेरा नाम सत्यकाम-ज्वाला है।

माता के इस स्पष्टीकरण से सत्यकाम का दिमाग उल्टा हुआ। उसने भक्ति तथा आदर सहित माँ के चरण-स्पर्श किये। ज्वाला ने अपने-स्नेह भरे हाथ उसके मस्तक पर रखे और उसे योग्य सत्यकाम बनने के आशीर्वाद दिए। उसी क्षण सत्यकाम शिक्षा-ग्रहण के हेतु माँ के चरण-स्पर्श कर चल पड़ा।

बेचारा सत्यकाम जब तक माता की दृष्टि से ओझल न हो गया, तब तक ज्वाला स्नेह-भरी दृष्टि से उसे देखती रही। जब वह ज्वाला की दृष्टि से ओझल हो गया तो ज्वाला ने आकाश की ओर देखा। उसने फिर अपनी आँखें बन्द कर लीं और परमेश्वर का ध्यान कर ज्वाला बोली, "परमेश्वर! मेरे पुत्र सत्य काम के एक मात्र तुम्हीं सहायक हो। तुम उसकी सहायता करना मेरे लाडले को मार्ग में कोई कष्ट न हो, कोई बाधा न सताये। और हाँ, गुरु के यहाँ उसे किसी प्रकार का अपमान, अनादर न मिले। वह खुशी-खुशी संसार की विद्याओं की शिक्षा ग्रहण कर मेरे पास लौट आए।

उन दिनों गौतम ऋषि का पवित्र आश्रम अपनी शांति और कठोर आदर्श-नियम के लिए बहुत प्रसिद्ध

था। गौतम ऋषि सही अर्थों में महात्मा और गुरु थे। वे अपने आश्रम में शिष्यों को अपने पुत्र की तरह रखते, प्यार करते और उन्हें शिक्षा देते थे। उनकी प्रशंसा की बातें सत्यकाम के कानों तक पहुँच चुकी थीं। उसने सोचा, उन्हीं के पास चलकर शिक्षा-ग्रहण करनी चाहिये। कुछ लोगों ने सत्यकाम को यह भी बतलाया था कि ब्रह्म-विद्या की शिक्षा देने वाला उनसे बढ़कर कोई और नहीं है। ऐसा सोचकर वह गौतम ऋषि के आश्रम की ओर चल पड़ा। चलते-चलते उसके पैर थक गये थे। वह अपनी माँ को भुला न पा रहा था। उसे ज्वाला की सारी बातें कंठस्थ थीं।

गर्मी का मौसम था। मारे प्यास के उसका गला सूख रहा था। फिर भी उसके हृदय में विचित्र उत्साह भरा था। वह अपने उत्साह के बल पर आगे बढ़ा जा रहा था। वह शिक्षा पाने के लिये आतुर हो रहा था। माँ की याद आने पर वह विचलित नहीं होता था, वरन् उसे प्रेरणा मिलती थी। वह मारे उत्साह के आगे बढ़ता चला जा रहा था। आज का दिन उसे अत्यन्त सुहावना-सा प्रतीत हो रहा था।

दिन बीत गया। भगवान् अंशुपाली अस्तांचल की

गोद में छिपते चले जा रहे थे। गौएँ चरागाह से चरकर, रंभाती हुई गाँवों की ओर लौटी जा रही थीं। सड़कों पर धूलें उड़ रही थीं। आश्रम के ब्रह्मचारी शिक्षार्थी धूनी रमाने के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी कर रहे थे।

धीरे-धीरे मधुर हवा बहने लगी। सत्यकाम थके पाँव गौतम ऋषि के समक्ष उपस्थित हुआ और उन्हें प्रणाम कर चुपचाप खड़ा हो रहा। संध्या पृथ्वी पर उतर गई थी। शाम का वक्त होने के कारण गौतम उपासना में लगे हुए थे। सत्यकाम चुपचाप खड़ा रहा। इस अवसर में उसे आराम करने का मौका मिला। वह आनन्द से मग्न था। क्योंकि आज उसे गुरु के आश्रम में आने का मौका मिला था।

बड़ी देर के बाद गौतम की उपासना समाप्त हुई। संध्या अब रात्रि में परिवर्तित हो रही थी। आकाश में चाँद मुस्करा रहा था। शुभ चन्द्रिका पृथ्वी पर फैल रही थी। आश्रम का वातावरण पूर्णतया शांत था। गौतम आश्रम के आँगन में कुश की आसन पर विराजमान थे। उन्होंने सत्यकाम को अपने पास बुलाया। गौतम ने पूछा, "यहाँ क्यों आए हो बालक ?"

"मैं आपके समक्ष ब्रह्मचर्य को प्रार्थना करता हूँ। कृपया मुझे अपना शिष्य स्वीकार कोजिए, भगवन !" सत्यकाम ने गौतम के चरणों पर अपना माथा टेककर कहा।

"दीर्घजीवी हो, वत्स !" आशोर्वाद देकर गौतम ने पूछा, "परन्तु तेरा गोत्र क्या है बालक ?"

अपना प्रश्न पूछकर गौतम उसकी ओर प्रसन्नता भरी दृष्टि से देखने लगे। वे सत्यकाम को देखकर प्रसन्न थे। लेकिन साहसी और सच्चा सत्यकाम तनिक भी नहीं डरा। वह सारी बातें जानता था। उसे माँ को सिखलाई हुई बातें याद थीं। उसने कहा, "भगवन्, मेरा गोत्र क्या है, सो मुझे नहीं मालूम। मेरी माँ दासी थी। उसने भरी जवानी में अनेकानेक जगहों में दासी का काम किया था। उन्हीं दिनों वह मुझे अपने गर्भ में पा सकी। इसीलिए मैं अपना गोत्र नहीं बतला सकता हूँ, मेरी माता का नाम ज्वाला है और मैं सत्यकाम-ज्वाला हूँ।"

बिल्कुल शांत वातावरण था। आश्रम में शांति थो, गौतम ऋषि भी शांत थे। गौतम ऋषि ने सत्य को पहचान कर लो ; सच्चे ऋषि और ब्रह्मज्ञानी जो थे। उसे देखकर गौतम प्रसन्न थे। कितना सीधा,

कितना सरस, कितना तेज पूर्ण ! सूर्य की तरह प्रखर, चाँद की तरह शीतल, और मृदुभाषी !!

सत्यकाम चुपचाप सिर झुकाये गौतम के समक्ष खड़ा रहा। गौतम की प्रसन्नता की सीमा न रही। उन्होंने बड़े स्नेह से सत्यकाम का मस्तक चूमकर आशीर्वाद दिया और बोले, "वत्स, तुम ब्राह्मण हो। सत्य से तुम तनिक भी दूर नहीं हो। इतना सत्य तो ब्राह्मण ही बोल सकता है। तुम जाओ, अभी आराम करो। कल यज्ञ के लिए लकड़ियाँ चुन लाना मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा।"

सत्यकाम प्रसन्नता से नाच उठा। उसने अपने को धन्य समझा ! अपनी माता को धन्य समझा। अपने भाग्य को सराहा। गौतम ऋषि ने उसे आज अपने शिष्य के रूप में स्वीकार जो किया था। आज उसका नाम सार्थक हुआ। वास्तव में वह सत्यकाम था। आज से सचमुच उसका नाम पड़ा—सत्यकाम-ज्वाला !

पर वास्तव में धन्य थे गौतम जिन्होंने समझ लिया कि जो सत्य के बीच बैठा, वही ब्राह्मण है। धन्य है वह गुरु-आश्रम, जहाँ सत्य और असत्य की पहचान हो गई। सत्यकाम का सच्चा परिचय पाकर

गौतम फूले नहीं समाए। आखिर वे ऋषि थे। उनका हृदय संकुचित नहीं था। वे तो हिमालय की तरह अचल, सागर की तरह उदार और आकाश की तरह गम्भीर थे। उनमें संकीर्णता कहाँ ?

गौतम ऋषि ने सत्यकाम को ब्राह्मण स्वोकार किया। उसी रोज से सत्यकाम उनके आश्रम में रह-कर उनकी शिक्षा-ग्रहण करने लगा। आगे चलकर यही सत्यकाम बहुत बड़ा ब्रह्मज्ञानी हुआ। लोग इस-की ज्ञान-भरी बातें सुनने के लिए दूर-दूर से आने लगे। ज्वाला का भाग्योदय हुआ !

⊙⊙

भक्ति का प्रसाद

पिछले पृष्ठों में हमने सत्यकाम के सत्य-वचन की कहानी पढ़ी है। अब विस्तारपूर्वक यह पढ़ेंगे कि गौतम ऋषि के आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी सत्यकाम ने किस प्रकार गुरु से शिक्षा ली।

अब सत्यकाम का नाम सत्यकाम ज्वाला पड़ चुका था। दूसरे रोज सत्यकाम जंगल से लकड़ियाँ इकट्ठी कर लाये। उपनयन की सारी तैयारियाँ हुईं। वेद के पाठ और मंत्रोच्चारण से आश्रम गूंज उठा। नियमानुसार सत्यकाम का उपनयन हुआ और अब वह शुद्ध ब्रह्मचारी हो गया।

उपनयन का संस्कार समाप्त हो जाने पर गौतम ने सत्यकाम को अपने पास बुलाकर कहा, "वत्स ! जो आश्रम में रहता है, उसे आश्रम के धर्मों का पालन करना पड़ता है। मैं तुम्हें भी एक काम सौंपना चाहता हूँ।"

"सौंपिये सौम्य ! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है !" सत्यकाम बोला।

"आश्रम में ये जो दो सौ दुबली-पतली गायें हैं। इन्हें तुम ले जाओ। उनके बछड़ों को भी उनके साथ रखो। तुम इन्हें ले जाओ। इनके पालन-पोषण का भार तुम्हारे ऊपर रहा।" गौतम बोले।

गौतम की आज्ञा पाकर सत्यकाम फूला नहीं समाया। उसने कहा, "यह तो मेरा सौभाग्य है, गुरुदेव कि मुझे गायों की सेवा करने का सुअवसर दिया जा रहा है। मैं इन्हें बहुत जतन से रखूंगा। मैं इनकी सेवा हर तरह से करूँगा। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं इन्हें मोटी-तगड़ी और स्वस्थ बना सकूं।"

"जाओ, ऐसा ही होगा। तेरी कामना पूर्ण होगी।" गौतम ने आशीर्वाद दिया। सत्यकाम उसी रोज उन गौओं को लेकर आश्रम से चल पड़ा। वह गायों के झुंड को लेकर निर्जन वन में चला गया। वहाँ

विचित्र शान्ति थी । किसी आदमी से भेंट न होती थी । एकांत वातावरण था । आश्रम का स्वर भी वहाँ नहीं पहुँच पाता था । वन की बगल से एक नदी कल-कल छल-छल करती हुई बह रही थी । सत्यकाम यहाँ रहकर गौओं की सेवा में लग गया । वह उन्हें वन के पत्ते खिलाता, नदी में पानी पिलाता, स्नेह से उसके गले मिलता और उनकी पीठ सहलाता था । सत्यकाम यहाँ एकान्त में रहकर इतना खुश हुआ जैसे उसे एक नया जीवन मिल गया हो । स्वादिष्ट आहार पाकर गौएँ अब अधमरी और दुबली-पतली नहीं रहीं । उनके बछड़े वन में चौकड़ियाँ भरने लगे । वे अपनी माताओं का दूध पीते और मस्त रहने लगे । लेकिन इधर नियमित रूप से सत्यकाम भी वन में लकड़ियाँ इकट्ठी करता, होम करता, वेद-मंत्र का पाठ करता और ब्रह्म की आराधना भी करता था । रात्रि में कंद-मूल खाकर वह गौओं के बीच में शान्तिपूर्वक सो रहता । सत्यकाम जानता था कि जब तक वह प्रेम-भाव से, जब तक गुरु की आज्ञाओं का पालन हृदय से नहीं करेगा, गुरु उसपर प्रसन्न न होंगे । और अगर गुरु उसपर प्रसन्न न हुए तो फिर ब्रह्मा की शिक्षा नहीं मिल सकती । गुरु के आशीर्वाद भी नहीं मिल सकते । वह जानता

था कि गौतम के आशीर्वाद और शिक्षा ही से उसके हृदय का अन्धकार दूर हो सकेगा, वह ज्ञान की दिव्य ज्योति को पा सकेगा।

इसलिए सत्यकाम ने कठोर तपस्या से तनिक भी मुख न मोड़ा। दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बीतते रहे। इसी प्रकार कई महीने और कई साल बीत गए। सत्यकाम को इसकी कुछ खबर न रही। वह अपनी तपस्या में लगा था। चार सौ गौओं की सेवा का भार था। छोटा-सा बालक, किन्तु घोर तपस्या में तल्लीन था। गोओं की सेवा में तनिक भी कमी नहीं होती थी।

गाएँ स्वच्छन्द होकर घूमती-फिरती थीं। हरी-घास खातीं और नदी का स्वच्छ जल पीती थीं। धीरे-धीरे वे स्वच्छ होने लगीं। उसकी संख्या में वृद्धि होने लगी। लेकिन कब कितने बछड़े हुए, इसकी वहाँ कोई चिन्ता नहीं थी। गाएँ अपने सेवक को पाकर खुश थीं। उनके रोम-रोम से अपने सेवक के लिए श्रद्धा और आशीष की भावनाएँ निकल रही थीं।

इन्हीं दिनों की बात है। एक विचित्र घटना हो गई। उन गायों में एफ साँढ था, जो सब साढों में बड़ा और हृष्ट-पुष्ट था। उसके शरीर में एक रोज वायु-

देवता प्रवेश कर गए। सत्यकाम को इसका पता न था। लेकिन वायु-देवता जोर-जोर से चिल्लाने लगे, सत्यकाम ! सत्यकाम !!

दिन-भर का सारा काम निपटाकर सत्यकाम पत्तों के बिछावन पर आराम करने के लिए तैयार हो हो रहा था कि उसके कानों में सांढ का स्वर पहुँचा। वह दौड़कर आया और सांढ को चकित होकर देखा। सांढ वैसे ही पुकार रहा था—सत्यकाम ! सत्यकाम !!

"क्या आज्ञा है, महाराज !" सत्यकाम ने पूछा।

सांढ ने कहा, "देखो, अब हम हजारों की संख्या में हो गए हैं। तुम्हारा व्रत भी अब पूर्ण हो चुका है। अब तुम हमें अपने गुरु के आश्रम में ले चलो।"

सत्यकाम के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उस सांढ का नाम वृषभ था। वृषभ की बात सुनकर सत्यकाम ने गौओं की गणना शुरू की। वास्तव में गौओं की संख्या हजार हो चुकी थी।

सत्यकाम की गुरु-भक्ति, तपस्या और गो-सेवा देखकर वायु-देवता उसपर अतीव प्रसन्न हुए थे। उन्होंने सत्यकाम को सिर्फ इतना ही नहीं बतलाया कि गौओं की संख्या हजार तक पहुँच चुकी है, बल्कि उन्होंने उसे ब्रह्म की शिक्षा भी देनी चाही। इसलिए

उन्होंने पुनः कहा, "वत्स ! आओ, मैं तुम्हें ब्रह्म की बातें बतलाऊँ।"

सत्यकाम ने इसका पता अब ही पाया कि वायु-देवता उसपर इतने प्रसन्न हैं। सत्यकाम के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने सत्यकाम को ब्रह्म की शिक्षा देनी चाही। सत्यकाम का मस्तक उनके आगे श्रद्धा और भक्ति से झुक गया। सत्यकाम ने कहा, "यह तो आपकी कृपा है, भगवन् ! मैं ब्रह्म की बातें जानने को लालायित हूँ।"

सत्यकाम की उत्कंठा देखकर वायु-देवता कहने लगे, "वत्स, यह जो तुम पूर्व की ओर देख रहे हो, यही परमात्मा के याद की एक कला है। पश्चिम की ओर दूसरी कला है। इसी प्रकार उत्तर और दक्षिण में भी एक-एक कला और हैं। इन चार कलाओं को लेकर ही ब्रह्मा का एक पाद पूर्ण होता है। और जानते हो, इस पाद का धर्म क्या है ?"

"बतलाइए, भगवन्।" सत्यकाम बोला।

वायु-देवता बोले, "इस पाद का धर्म है—सारी वस्तुओं को प्रकाश में ले आना। इसलिए इस पाद का नाम है—प्रकाशवान। जो लोग ब्रह्म के इस प्रकाश-वान पाद की उपासना करते हैं, वे इस लोक में

प्रकाशवान होते हैं और अपनी मृत्यु के बाद भी वे प्रकाशवान लोक में ही पहुँचते हैं।"

सत्यकाम चुपचाप सुनता रहा। वायु-देवता ने आगे कहा, "जैसा कि तुमने अभी सुना है—ब्रह्म के चार पाद हैं। मैंने तुमसे एक पाद की बात कही है। अब दूसरे पाद की बात तुम्हें अग्नि-देवता बतलाएँगे।"

वृषभ सांढ चुप हो रहा। वायु-देवता उसके शरीर को छोड़कर चले गये। सत्यकाम भी अपने स्थान आकर विश्राम करने लगा।

अब ऐसा लगता है, सत्यकाम की तपस्या पूरी हो चली है। दूसरे रोज वह खूब सवेरे उठा। नित्य-कर्म के बाद गौओं को भोजन कराया और फिर उन्हें लेकर आश्रम की ओर चल पड़ा। आज सत्यकाम के आनन्द की सीमा नहीं है। उसकी तपस्या सफल हो चुकी है। इतने दिनों बाद उसे गुरु के आश्रम में लौटने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

शाम हो गई। सूरज अस्तांचल की यात्रा कर रहे थे। सत्यकाम के पाँव थक गये थे। परन्तु अभी मार्ग का अन्त न हुआ। अभी तो आधा मार्ग पूरा करने को शेष रह गया था। रास्ते में सत्यकाम ठहर गया। उसने गौओं को पत्तियाँ खिलाईं, नदी का स्वच्छ जल

पिलाया। फिर वन-वृक्षों से लकड़ियाँ तोड़कर इकट्ठी कीं। स्नानादि से निवृत्त होकर होम करना शुरू किया। मन्त्रोच्चारण और वेद-पाठ से जंगल की नीरवता भंग होने लगी। आनन्द से गौएँ डकराने लगीं। होम प्रारम्भ करते ही अग्नि की ज्वाला धधक पड़ी। सत्यकाम चुपचाप बैठा होम करता रहा। तभी सहसा उसे इस बात की याद आई कि वायु-देवता ने कहा था कि ब्रह्म के दूसरे पाद का ज्ञान उसे अग्नि-देवता करायेंगे।

सत्यकाम ने सोचा कि शायद अग्नि-देवता बिल्कुल उसके सम्मुख बैठकर ब्रह्म के दूसरे पाद की बात बतलाएँगे। वह सोच रहा था कि अब तक अग्नि-देवता क्यों नहीं आ सके। तभी सत्यकाम के कानों में यह आवाज सुनाई पड़ी, "सत्यकाम ! सत्यकाम !!"

"आज्ञा हो, भगवन् !" सत्यकाम बोला।

"मैं तुम्हें ब्रह्म के दूसरे पाद की बात कहना चाहता हूँ।" अग्नि-कुंड से आवाज आई।

"यह आपकी कृपा है, भगवन् !" सत्यकाम ने विनीत भाव से कहा।

अग्नि-देवता कहने लगे, "देखो, यह जो तुम भाँति-भाँति के जीव-जन्तु, पेड़-पौधे और लता-लतिकाओं

को देख रहे हो, यही एक कला है। दूसरी कला है—पृथ्वी और आकाश के बीच की जगह—इसे अंतरिक्ष कहते हैं। इतना ही नहीं चारों ओर फैला हुआ समुद्र भी एक कला है। इन चार कलाओं को लेकर हर ब्रह्म का दूसरा पाद पूरा होता है। इस पाद के ओर-छोर का कोई अन्त नहीं है। इसलिए इसका नाम है—अनंतवान। जो इस अनंतवान ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे इस लोक में भी वैसी ही महिमा को पाते हैं, जिसका कोई अंत न हो। और वे लोग अपनी मृत्यु के बाद भी अनंतलोक को ही जाते हैं।"

इतना कहकर अग्नि-देव थोड़ी देर चुप रहे। फिर उन्होंने कहा, "तुमने दूसरे पाद की बातें सुन लीं। अब मैं तुम्हें तीसरी पाद की बातें बतलाऊँगा।"

इसके बाद अग्नि-देवता मौन रहे। सत्यकाम का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। ब्रह्मज्ञान के तेज से उसका शरीर उदीप्त हो उठा। सत्यकाम को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसमें एक प्रकार का विचित्र प्रकाश भरा आ रहा है। वह मौन होकर चुपचाप वहीं सो रहा। किसी प्रकार रात बीत गई। भोर होते ही उसने गौओं को सेवा की और आप नित्यकर्म से निवृत्त होकर, गौओं को लिये चल पड़ा। गौएँ झूमती हुई

आगे बढ़ने लगीं।

लेकिन दिन-भर चलते रहने के बाद फिर आज भी सत्यकाम आश्रम में न पहुँच सका। बीच ही में सूरज डूब गया। सत्यकाम ने पुनः पड़ाव डाला और होम करने के लिये जंगल की लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। होम प्रारम्भ किया, वेद-पाठ और मन्त्रोच्चारण करके वह उपासना में लीन हो गया। सत्यकाम पूर्व की ओर मुँह किये चुपचाप शांत बैठा था। उसी समय एकाएक सत्यकाम को अग्नि और वायु-देवता की बातें याद हो आईं। उन दोनों देवताओं से सत्यकाम को जो ज्ञान मिला था, वह उसी का चिंतन करने लगा। अखंड गुरु अग्नि और तपस्या से प्रकृति उसपर प्रसन्न हो चुकी है। प्रसन्न होकर ही अग्नि और वायु-देवता उसे ब्रह्म के दो पादों की शिक्षा दे गये हैं। लेकिन सत्यकाम को अभी ब्रह्म के दो पादों का और भी ज्ञान पाना शेष है।

सत्यकाम अपनी उपासना में लीन बैठा था कि उसी समय सहसा एक उजले दूध के समान पंखों वाला एक हंस आकर उसके सामने आ बैठा। लेकिन यह हंस वास्तव में हंस नहीं था। हंस के रूप में वे स्वयं सूर्य भगवान थे। हंस ने बैठते ही पुकारा—

"सत्यकाम ! सत्यकाम !!"

"आज्ञा हो, भगवन् !" सत्यकाम बोला।

"मैं तुमसे ब्रह्म के तीसरे पाद की बातें कहूँगा।" हंस बोला।

"यह तो आपकी कृपा है, भगवन् !" सत्यकाम ने कहा।

"ठीक है, सुनो।" हंस कहने लगा—"तुम जो यह अग्नि देख रहे हो, सत्यकाम, यह भी एक कला है। इसी प्रकार सूर्य दूसरी कला है। चांद और बिजली भी एक-एक कला। इन चारों कलाओं के मिलने से ब्रह्म का तीसरा पाद पूरा होता है। इन सबों में अपनी-अपनी ज्योति विद्यमान है। इसीलिए इनका नाम है—ज्योतिस्माना। और जो इस ज्योतिस्माना पाद की उपासना करते हैं—वे लोक में प्रकाश से चमकने वाले होले हैं और अपनी मृत्यु के उपरांत भी ज्योतिस्मान लोक को प्राप्त करते हैं।"

"जी !" सत्यकाम बोला।

हंस ने कहा, "मैंने तुम्हें ब्रह्म के तीसरे पाद की बातें बतलाई हैं; और अब ब्रह्म के चौथे पाद की बातें तुम्हें मद्गु बतलावेंगे।" और हंस उड़ गया।

सत्यकाम की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। दूसरे

रोज सूर्योदय के पहले ही गौओं को पत्तियाँ खिलाकर, पानी पिलाने के बाद वह उनके झुंड को लेकर आगे बढ़ा। दिन-भर चलते-चलते पाँव थक गए। शाम हो गई। सूरज अस्ताचल की ओर ढल गये। एक वन के बीच सत्यकाम ने पुनः पड़ाव डाल दिया। गौएं एक जगह बैठकर विश्राम करने लगीं। सत्यकाम ने लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। स्नान किया और लकड़ियों का होम जलाकर मंत्रोच्चारण और वेद-पाठ करने लगा। इसके बाद वह आँखें बंद कर परमेश्वर की उपासना में लीन हो गया। तभी मद्गु नामक जल का पंछी तैरता हुआ आया, और उसने पुकारा, "सत्यकाम !"

"आज्ञा हो, महाराज !" सत्यकाम बोला।

"मैं तुम्हें ब्रह्म के चौथे पाद की बातें बतलाऊँगा।" कहता हुआ जल का पंछी सत्यकाम के सामने आकर बैठ गया। सत्यकाम ने कहा, "यह तो आपकी कृपा है, भगवन !"

जल का पंछी कहने लगा—"यह जो हवा जैसी जीवन शक्ति देख रहे हो, यह भी ब्रह्म की एक कला है। इसी प्रकार देखने की शक्ति रखने वाली आँखें हैं। यह भी एक कला है। सुनने वाला कान और मनन करने वाला मन भी ब्रह्म की कला है। ये ही चारों

कला मिलकर ब्रह्म का चौथा पाद है। इसे कहते हैं—आयतनवान। आयतन का अर्थ होता है—घर, मन और आश्रम। जो इन आयतन ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे इस लोक में उत्तम आश्रम लाभ करते हैं और मृत्यु के बाद आयतनवान लोक में जा पहुँचते हैं।"

इतना कहकर वह जल का पंछी उड़ गया। सत्यकाम ने अब ब्रह्म के चारों पादों को जान लिया था। वह आज अत्यन्त खुश था। सत्यकाम ने ब्रह्म के सत्य को देख लिया और अपने में अनन्त प्रकाश का अनुभव करने लगा। उसने परमेश्वर को याद किया। रात्रि बड़ी शान्ति से कटी। सुबह होते ही नित्य की भाँति गौओं को लेकर गुरु-आश्रम की ओर चल पड़ा। दिन-भर निरन्तर चलते रहने के बाद शाम को वह गौओं के झुण्ड को लिये आश्रम में पहुँचा। आज सत्यकाम का मन आनन्द से विह्वल हो रहा था। कितना शुभ-संयोग था। गुरु-शिष्य का मिलन बहुत वर्षों के बाद हो रहा था। गौओं को देखकर ऋषि गौतम की आँखें स्नेह से भीग गईं। उन्होंने स्नेह-पूर्वक पुकारा—"सत्यकाम !"

"आज्ञा हो भगवन् !" सत्यकाम बोला।

"तुम्हारा मुख-मंडल ब्रह्म के तेज से चमक रहा

है। यह अनुशासन किससे मिला ?"

सत्यकाम ने उत्तर दिया, "गुरुदेव, मुझे अनुशासन मिल चुका है। परन्तु मुझे किसी से शिक्षा नहीं मिली है। स्वयं देवताओं ने मुझे उपदेश दिये हैं। भगवन्, मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप स्वयं मुझे शिक्षा दीजिए।"

गुरु के आगे प्रार्थना करके सत्यकाम थोड़ी देर शांत रहा। परन्तु उसे सन्तोष न हुआ। उसने गौतम से पुनः प्रार्थना की, "आचार्य, मैंने आप जैसे ऋषियों के मुख से सुन रखा है कि जो विद्या गुरु के द्वारा मिलती है, वह विद्या अधिक फलवती होती है। आज आप मुझे स्वयं ब्रह्म का उपदेश दीजिए, भगवन्!"

गौतम ऋषि की आँखें प्रसन्नता से खुल गईं। उन्होंने कहा, "घबराओ नहीं। ऐसा ही होगा, वत्स! मैं तुम्हें शिक्षा दूंगा।"

गौतम ऋषि सत्यकाम की सेवाओं से अति प्रसन्न थे। उन्होंने अब यह समझ लिया कि सत्यकाम वास्तव में ब्राह्मण है और वह ब्रह्म की शिक्षा पाने का वास्तविक अधिकारी भी है। इसलिए उन्होंने सच्चे हृदय से सत्यकाम को ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा दी। और जिन देवताओं ने उसे वनों में ब्रह्म के चार पादों का ज्ञान

कराया था, उनके सम्बन्ध में पूरे विस्तार में सारी बातें बतलाईं।

सत्यकाम के हृदय की आँखें खुल गईं। वह ब्रह्म की ज्योति से दीप्त हो गया। उसकी आँखों से प्रकाश की आभा फूटने लगी। श्रद्धा और भक्ति से उसने गुरु के चरण-स्पर्श किए और कहा, "आपके उपदेश से आज मेरा जीवन धन्य हो गया, भगवन्!"

लेकिन गौतम तो उसकी भक्ति और श्रद्धा से प्रभावित थे। उन्होंने गद्‌गद कण्ठ से कहा, "नहीं-नहीं, यह तो तुम्हारी भक्ति का प्रसाद है, सत्यकाम!"

सत्यकाम ने पुनः आचार्य गौतम के चरण-स्पर्श किये।

⊙⊙

Library IIAS, Shimla
H 028.5 Sr 38 U
00077816